RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18, अंक-3, जून जुलाई अगस्त 2025

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18 अंक - 3 जून-जुलाई-अगस्त-2025

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टिट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

शिक्षण - एक कला

कमलेश कुमार अटल
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

आधुनिक शैक्षिक प्रौद्योगिकी के युग में यह प्रश्न बार-बार उठता है कि शिक्षण को कला माना जाए अथवा विज्ञान। मनोविज्ञान, मापन-मूल्यांकन, शिक्षण-विधियों और प्रशिक्षण प्रणालियों के तीव्र विकास ने इस प्रश्न को और अधिक जटिल बना दिया है। आज कक्षा-कक्ष में शिक्षक केवल अनुभव और परंपरा के आधार पर कार्य नहीं करता, बल्कि बालक के व्यवहार, बुद्धि, रुचि, अभिरुचि और क्षमताओं के वैज्ञानिक अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों का भी सहारा लेता है। प्रयोगशालाओं में विकसित मनोवैज्ञानिक सिद्धांत, बुद्धि और उपलब्धि के मापन, अधिगम के नियम, पाठ्यवस्तु के क्रमबद्ध संगठन तथा मूल्यांकन की वस्तुनिष्ठ प्रणालियाँ—ये सभी शिक्षण में विज्ञान के तत्वों की सशक्त उपस्थिति का संकेत देती हैं। इसी कारण अनेक विद्वान शिक्षण को एक प्रकार का अनुप्रयुक्त विज्ञान मानने का प्रयास करते हैं।

किन्तु यदि शिक्षण को केवल विज्ञान मान लिया जाए तो वह उसके वास्तविक स्वरूप को पूर्णत: अभिव्यक्त नहीं कर पाता। विज्ञान का क्षेत्र यथातथ्य, मापनयोग्यता और वस्तुनिष्ठता तक सीमित होता है, जबकि शिक्षण एक जीवंत मानवीय प्रक्रिया है, जिसमें शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच सतत् भावनात्मक, बौद्धिक और नैतिक अंत:क्रिया होती है। विज्ञान यह बता सकता है कि बालक कैसे सीखता है, किन परिस्थितियों में अधिगम अधिक प्रभावी होता है और कौन-सी विधियाँ सामान्यत: उपयोगी हैं, परन्तु वह यह निश्चित नहीं कर सकता कि किसी विशेष क्षण में, किसी विशेष बालक के लिए, कौन-सा शब्द, कौन-सा उदाहरण या कौन-सी दृष्टि सबसे अधिक प्रेरक सिद्ध होगी। यही वह बिंदु है जहाँ शिक्षण विज्ञान की सीमा को लाँघकर कला के क्षेत्र में प्रवेश करता है।

वास्तव में, इतिहास पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट होता है कि महान वैज्ञानिकों को भी केवल यांत्रिक बुद्धिजीवी नहीं माना गया। आर्किमिडीज़ की खोजों में, न्यूटन के चिंतन में, आइंस्टीन की सापेक्षता में या जगदीश चंद्र बोस के प्रयोगों में एक ऐसी सृजनात्मक प्रेरणा दिखाई देती है, जिसे विद्वानों ने 'दैवी पागलपन' या 'डिवाइन मैडनेस' की संज्ञा दी है। यह वह प्रेरणा है जिसे न तो पूर्णत: सूत्रों में बाँधा जा सकता है और न ही प्रयोगशाला में मापा जा सकता है। जब किसी प्रक्रिया के सभी तत्वों का वैज्ञानिक विश्लेषण संभव नहीं होता और उसमें एक अदृश्य, रहस्यमयी तथा वर्णनातीत शक्ति की उपस्थिति अनुभव की जाती है, तब हम उसे कला के क्षेत्र में रखते हैं। इस दृष्टि से विज्ञान स्वयं कला के तत्वों से रहित नहीं है।

यदि विज्ञान भी सृजनात्मक कल्पना, अंतर्दृष्टि और अप्रमेय प्रेरणा पर आश्रित हो सकता है, तो शिक्षण जैसे मानवीय और संवेदनशील कार्य में कला का महत्व और भी बढ़ जाता है। शिक्षक केवल

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

पाठ्यवस्तु का संप्रेषक नहीं होता, बल्कि वह कक्षा के वातावरण का सृजक, विद्यार्थियों की सुप्त क्षमताओं का जाग्रतकर्ता और उनके व्यक्तित्व का शिल्पकार होता है। जैसे एक कलाकार रंगों, रेखाओं या स्वरों के माध्यम से अपने भावों को अभिव्यक्त करता है, वैसे ही शिक्षक शब्दों, संकेतों, दृष्टांतों और व्यवहार के माध्यम से ज्ञान को जीवंत बनाता है। एक ही पाठ्यवस्तु, एक ही पाठ्यक्रम और एक ही विधि होते हुए भी दो शिक्षकों का शिक्षण प्रभाव समान नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक शिक्षक की कला, संवेदना और अंतर्दृष्टि भिन्न होती है।

शिक्षण को एक कला माना जाना उसके मूल स्वरूप को समझने का एक अत्यंत सार्थक दृष्टिकोण है। कला का सामान्य अर्थ किसी ऐसे कौशल या योग्यता से है, जो किसी विशेष कार्य या क्रिया के संपादन में व्यक्ति द्वारा प्रदर्शित की जाती है। यह कौशल जन्मजात न होकर धैर्यपूर्वक, निरंतर और सचेत अभ्यास से विकसित होता है। कला में निहित दक्षता का उद्देश्य केवल कार्य-संपादन नहीं होता, बल्कि किसी लक्ष्य की प्राप्ति होता है। यह लक्ष्य भारतीय दार्शनिक परंपरा के अनुसार 'सत्य', 'शिवं' और 'सुन्दरम्'—इनमें से किसी एक के साक्षात्कार या उपलब्धि से सिद्ध होता है। यद्यपि कला की व्यापक परिभाषा इन तीनों मूल्यों को समाहित करती है, फिर भी सामान्य रूप से कला को उन मानवीय क्रियाओं से जोड़ा जाता है, जिनका चरम उत्कर्ष 'सुन्दरम्' की उपलब्धि में निहित होता है। इसी कारण ललित कलाओं को सौंदर्य-बोध की सर्वोच्च अभिव्यक्ति का माध्यम माना गया है।

कला के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए विद्वानों ने उसके कुछ मूलभूत लक्षणों की चर्चा की है। वैज्ञानिक परिभाषाकारों ने विशेष रूप से कला में तीन अनिवार्य तत्वों की उपस्थिति स्वीकार की है—भाव, अभिव्यक्ति और लय। ये तीनों तत्त्व ललित कलाओं में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। भाव से आशय कलाकार के अंत:करण में उत्पन्न संवेदनाओं और अनुभूतियों से है, अभिव्यक्ति उन भावों को किसी माध्यम के द्वारा व्यक्त करने की क्षमता है, और लय उस क्रम, संतुलन और प्रवाह को सूचित करती है, जो कला को जीवंत और प्रभावशाली बनाता है। जब हम शिक्षण या अध्यापन को इन मानदंडों पर परखते हैं, तो स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षण इन तीनों गुणों से युक्त है। शिक्षक के भीतर विद्यार्थियों के प्रति संवेदना और उत्तरदायित्व का भाव होता है, वह अपने विचारों और ज्ञान को उपयुक्त भाषा, उदाहरणों और संकेतों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, और सम्पूर्ण अध्यापन-प्रक्रिया में एक विशेष लय या क्रम विद्यमान रहता है। इसी कारण शिक्षाशास्त्री जैसे डॉ0 व्हाइटहेड और सर परसी नन यह मानते हैं कि शिक्षण में भी लय का तत्व निहित होता है। इस दृष्टि से शिक्षण न केवल कला की व्यापक परिभाषा में आता है, बल्कि अनुकूल परिस्थितियों और योग्य शिक्षक के हाथों में वह एक ललित कला का रूप भी धारण कर लेता है।

कला के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करने के लिए उसे दो रूपों में विभाजित किया जाता है—व्यावहारिक और विचारात्मक। व्यावहारिक रूप में कला का तात्पर्य उस कौशल या योग्यता से है, जिसका प्रत्यक्ष प्रयोग किसी कार्य या क्रिया के संपादन में किया जाता है। इसमें कार्य-पटुता, दक्षता और प्रवीणता को प्रधानता दी जाती है। इसके विपरीत विचारात्मक रूप में कला को एक विषय के रूप में ग्रहण करके उसके सिद्धांतों, नियमों, पद्धतियों और इतिहास का अध्ययन किया जाता है। एक रूप में 'करने' पर बल होता है, तो दूसरे में 'समझने' और 'जानने' पर।

कला के व्यावहारिक रूप का अनुसरण करने वाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह

कला की विशेषताओं, विधियों और नियमों से परिचित हो, किंतु यह ज्ञान केवल पुस्तकों से ही प्राप्त हो—ऐसा अनिवार्य नहीं है। वास्तव में कला का वास्तविक ज्ञान प्राय: अभ्यास, प्रयोग और अनुभव से प्राप्त होता है। इसके विपरीत केवल शास्त्रीय या पुस्तकीय ज्ञान अर्जित कर लेने से कोई व्यक्ति कलाकार नहीं बन सकता। वह कला के व्यवहारिक प्रयोग में दक्षता प्राप्त नहीं कर पाता। ज्ञान चाहे कितना ही मूल्यवान क्यों न हो, वह अभ्यास का स्थान नहीं ले सकता। कला में पूर्ण दक्षता निरंतर अभ्यास से ही आती है।

कभी-कभी यह देखा जाता है कि कला की व्यावहारिकता को इतना अधिक महत्व दे दिया जाता है कि उसके सामने शास्त्रीय ज्ञान का कोई मूल्य नहीं रह जाता, और कभी इसके विपरीत शास्त्रीय ज्ञान को व्यावहारिक कौशल से ऊपर स्थान दे दिया जाता है। दोनों ही स्थितियाँ असंतुलित और असंगत हैं। वस्तुत: कला में व्यावहारिक पक्ष निश्चय ही अधिक महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि वही कला को जीवन्त और प्रभावशाली बनाता है, परन्तु शास्त्रीय ज्ञान का भी अपना स्वतंत्र और आवश्यक स्थान है। शास्त्रीय ज्ञान कला को दिशा, स्पष्टता और गहराई प्रदान करता है, जबकि अभ्यास उसे सजीव और सार्थक बनाता है। इसी संतुलन के आधार पर शिक्षण को एक सच्ची और पूर्ण कला के रूप में समझा जा सकता है।

शिक्षण-कला का स्वरूप :

शिक्षण-कला का स्वरूप अन्य कलाओं के सामान्य विवेचन से भिन्न नहीं है, बल्कि वही मूल तत्त्व इसमें भी समान रूप से विद्यमान रहते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक कला में किसी विशिष्ट कार्य के लिए योग्यता और कौशल की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार शिक्षण-कला में भी दक्षता, अभ्यास और अनुभव का अनिवार्य महत्व है। शिक्षण केवल सूचना का संप्रेषण नहीं है, बल्कि एक उद्देश्यपूर्ण क्रिया है, जिसका अंतिम लक्ष्य सत्यं, शिवं और सुन्दरम् जैसे उच्च मानवीय मूल्यों की प्राप्ति और उनका साक्षात्कार कराना है। शिक्षक अपने अध्यापन के माध्यम से न केवल ज्ञान देता है, बल्कि जीवन के प्रति सही दृष्टि, नैतिक चेतना और सौंदर्य-बोध भी विकसित करता है।

अन्य कलाओं की भाँति शिक्षण-कला के भी दो प्रमुख रूप माने जा सकते हैं—व्यावहारिकता और शास्त्रीय ज्ञान। किंतु शिक्षण की विशेषता यह है कि इसमें इन दोनों का संतुलित समन्वय अपेक्षित होता है। जहाँ चित्रकला में तूलिका और रंग साधन होते हैं, स्थापत्य कला में ईंट, गारा और संरचना सामग्री होती है, तथा मूर्तिकला में पत्थर और धातु माध्यम होते हैं, वहीं शिक्षण-कला की सामग्री जीवंत और संवेदनशील मानव सत्ता है—बालक और पाठ्यक्रम। इसीलिए शिक्षण में केवल तकनीकी कुशलता पर्याप्त नहीं होती; यहाँ बालक के मनोविज्ञान, उसकी रुचियों, क्षमताओं और सामाजिक पृष्ठभूमि के ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। यही कारण है कि शिक्षण-कला में व्यावहारिक दक्षता के साथ-साथ शास्त्रीय ज्ञान का महत्व अन्य कलाओं की तुलना में अधिक हो जाता है।

शिक्षण को एक चमत्कारपूर्ण कला इसलिए कहा गया है क्योंकि इसका कलाकार, अर्थात शिक्षक, सदा युवाओं के सान्निध्य में रहता है। युवा अवस्था ऊर्जा, स्फूर्ति, आशा, जोश और सजीवता का भंडार होती है, और ये गुण स्वभावत: संक्रामक होते हैं। शिक्षक चाहे किसी भी आयु का हो, इन जीवंत गुणों के बीच रहकर स्वयं भी उत्साह और सक्रियता से भरा रहता है। शिक्षण-कला उसे नित्य नवीन अनुभवों और चुनौतियों से रूबरू कराती है। कक्षा-कक्ष में उपस्थित विविध प्रकृति, प्रवृत्ति और क्षमता वाले विद्यार्थी शिक्षक के समक्ष निरंतर नई-नई समस्याएँ प्रस्तुत करते हैं।

इन बहुरूपिणी और बहुरंगिणी मानवीय परिस्थितियों का समाधान करते हुए शिक्षक स्वयं भी सीखता है और विकसित होता है। प्रत्येक समस्या का समाधान उसके भीतर नई अभिरुचि, नई प्रेरणा और नवीन बौद्धिक जागरूकता को जन्म देता है। इस प्रक्रिया में शिक्षक का अपना मानसिक और बौद्धिक विकास भी सतत रूप से होता रहता है। इस प्रकार शिक्षण-कला केवल विद्यार्थियों को ही नहीं, बल्कि शिक्षक को भी निरंतर गढ़ती और परिष्कृत करती है।

शिक्षण-कला के माध्यम से शिक्षक समाज की सक्रिय और सार्थक सेवा करता है। वह राष्ट्र और विश्व के कल्याण के लिए ऐसी प्रशिक्षित बुद्धि और जागरूक विवेक का निर्माण करता है, जो सभ्यता और संस्कृति के स्थायी आधारस्तम्भ होते हैं। विशेष रूप से आधुनिक सभ्यता का अस्तित्व ऐसी ही चेतन, नैतिक और विवेकशील मानव शक्ति पर निर्भर है। यदि शिक्षण-कला अपने वास्तविक स्वरूप में विकसित न हो, तो न तो समाज का संतुलित विकास संभव है और न ही आधुनिक सभ्यता का स्वस्थ विस्तार। इस प्रकार शिक्षण-कला मानव जीवन, समाज और संस्कृति के निर्माण की एक सृजनात्मक और चमत्कारपूर्ण प्रक्रिया के रूप में सामने आती है।

व्यक्तित्व का विकास :

शिक्षण के जो वास्तविक और प्रभावशाली परिणाम होते हैं, वे धीरे-धीरे शिक्षार्थी के व्यक्तित्व में इस प्रकार समा जाते हैं कि उसके मन, सोचने की शक्ति और व्यवहार पर गहरा प्रभाव डालते हैं। ये प्रभाव ऊपर से लगाए हुए या बनावटी नहीं होते, बल्कि स्वाभाविक रूप से भीतर तक पैठ जाते हैं। परिणामस्वरूप व्यक्ति का दृष्टिकोण बदलता है, वह किसी कार्य को समझने, उस तक पहुँचने और उसे करने के तरीके में भी परिवर्तन लाता है। ज्ञान, भावना और क्रिया—इन तीनों स्तरों पर होने वाले परिवर्तन ही शिक्षण की सच्ची सफलता को प्रकट करते हैं। इन्हीं के आधार पर यह जाना जाता है कि शिक्षा वास्तव में कितनी सार्थक रही है।

नि:संदेह शिक्षा का अंतिम उद्देश्य मानव के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना है। विद्यालय में यह विकास मुख्य रूप से पाठ्य-सामग्री के माध्यम से होता है। पाठ्य-सामग्री स्वयं लक्ष्य नहीं होती, बल्कि व्यक्तित्व निर्माण का एक आवश्यक साधन होती है। पाठ्यक्रम उन सभी अनुभवों का संगठित रूप होता है, जिनके द्वारा शिक्षार्थी में रचनात्मकता, अच्छे गुण, सकारात्मक प्रवृत्तियाँ और संतुलित स्वभाव का विकास होता है। पाठ्यक्रम के माध्यम से छात्र में सृजनात्मक सोच, सहयोग की भावना और आत्म-शक्ति के विकास का भाव उत्पन्न होता है। इन गुणों के क्रमिक विकास से उसके व्यक्तित्व का संस्कार और परिष्कार संभव हो पाता है।

शिक्षण की सफलता से जुड़े इन तत्वों का विवेचन इस उद्देश्य से नहीं किया गया है कि कोई ऐसी चमत्कारी विधि या निश्चित फार्मूला खोज लिया जाए, जिससे शिक्षण अपने आप सफल हो जाए। शिक्षण को किसी एक पद्धति, प्रणाली या तय नियमों में बाँधकर प्रभावी नहीं बनाया जा सकता। शिक्षार्थी में वांछित और वास्तविक परिणाम उत्पन्न करने के लिए शिक्षक में व्यक्तिगत सूझ-बूझ, आंतरिक तत्परता और निरंतर प्रयास का होना आवश्यक है। जो शिक्षक बिना सोचे-समझे केवल परंपरागत तरीकों का अनुसरण करते हैं, वे शिक्षण को जीवंत नहीं बना पाते।

एक सफल शिक्षक को अंधविश्वास पर आधारित तथाकथित प्रभावशाली पद्धतियों में सीमित नहीं किया जा सकता। न ही सफल शिक्षण के लिए कोई निश्चित दैनिक कार्यक्रम या पूर्वनिर्धारित सूत्र बनाया जा सकता है, जो हर परिस्थिति में समान रूप से काम करे। सीखना एक गहरी और जटिल प्रक्रिया है, जिसे सरल नियमों की सीमाओं में बाँधना कठिन है। इसलिए केवल पद्धतियों के कठोर अनुयायी बन जाने वाले शिक्षक अक्सर कठिनाइयों का सामना करते हैं।

प्रभावी शिक्षण के लिए शिक्षक में बुद्धि, समझ और विवेक का होना अनिवार्य है। यह समझ उसे बाल-मनोविज्ञान के अध्ययन से और पारंपरिक शिक्षण-पद्धतियों के आलोचनात्मक ज्ञान से प्राप्त होती है। किंतु इन सभी विधियों और सिद्धांतों से ऊपर एक ऐसा तत्व भी होता है, जिसे शब्दों में पूरी तरह बाँधा नहीं जा सकता। यह तत्व है शिक्षक की अपनी व्यक्तिगत क्षमता, उसकी अंतर्दृष्टि और उसकी अनकही प्रेरणाएँ। यही वे गुण हैं जो शिक्षण को एक साधारण कार्य से ऊपर उठाकर व्यक्तित्व निर्माण की सजीव और सार्थक प्रक्रिया बना देते हैं।

शिक्षण-कला का कलाकार :

शिक्षण-कला का वास्तविक कलाकार शिक्षक होता है। अन्य कलाकारों की तुलना में उसका कार्य अधिक कठिन और दूर तक प्रभाव डालने वाला होता है। मूर्तिकार, चित्रकार या स्वर्णकार अपनी कला से निर्जीव वस्तुओं को सुंदर बनाते हैं। जब वे पत्थर, रंग या धातु पर काम करते हैं, तो वह सामग्री किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं करती। वे अपनी कूँची या हथौड़ी को अपनी इच्छा के अनुसार चला सकते हैं। यदि उनके कार्य में कोई त्रुटि हो भी जाए, तो अधिक से अधिक कुछ सामग्री नष्ट होती है, और उनकी कृति के बिगड़ जाने से किसी दूसरे के जीवन पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

इसके विपरीत शिक्षक जिस सामग्री के साथ कार्य करता है, वह जीवंत और संवेदनशील होती है। उसका प्रत्येक शब्द, भाव और व्यवहार विद्यार्थियों के मन पर गहरा प्रभाव डालता है। शिक्षक की किसी छोटी भूल का प्रभाव भी केवल उसी तक सीमित नहीं रहता, बल्कि विद्यार्थियों के व्यक्तित्व और भविष्य को प्रभावित कर सकता है। इसी कारण शिक्षण-कला का दायित्व अन्य सभी कलाओं की अपेक्षा अधिक गंभीर और उत्तरदायित्वपूर्ण होता है।

प्रत्येक कलाकार के मन में एक आदर्श होता है, जिसकी प्राप्ति के लिए वह निरंतर प्रयास करता रहता है। उसी आदर्श की साधना में उसकी कृतियाँ दिन-प्रतिदिन अधिक सुंदर और परिष्कृत होती जाती हैं। उसी प्रकार शिक्षण-कला के कलाकार, अर्थात शिक्षक का भी एक निश्चित आदर्श और स्पष्ट जीवन-दर्शन होना चाहिए। प्रत्येक शिक्षक को अपने लिए ऐसा आदर्श निर्धारित करना चाहिए, जिससे समाज और शिक्षार्थियों के लिए कल्याणकारी परिणाम प्राप्त हो सकें।

यह मानना सरल है कि आदर्श निर्धारित करना आसान होता है, किंतु उस आदर्श की पूर्ति के लिए आत्मसंयम, धैर्य और निरंतर सतर्कता बनाए रखना कठिन होता है। यदि शिक्षक के जीवन में शिथिलता आ जाती है, तो उसका आदर्श अपने स्थान पर टिक नहीं पाता और धीरे-धीरे गिरने लगता है। आदर्श के पतन के साथ ही शिक्षक का प्रभाव भी कम होने लगता है और उसका शैक्षिक अस्तित्व संकट में पड़ जाता है।

अत: शिक्षक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आदर्श को गहराई से समझे और उसे अपने

जीवन में आत्मसात करे। वही आदर्श कठिन परिस्थितियों, विरोधों और जीवन के झंझावातों में शिक्षक के लिए संबल बनता है। उसी के आधार पर शिक्षक न केवल अपने कर्तव्य का सफलतापूर्वक निर्वाह करता है, बल्कि विद्यार्थियों के जीवन को भी सही दिशा देने में समर्थ होता है।

समग्र रूप से निष्कर्ष यह है कि शिक्षण एक साधारण कार्य नहीं, बल्कि एक गहन, सृजनात्मक और उत्तरदायित्वपूर्ण कला है, जिसका केंद्र शिक्षक होता है। अन्य कलाओं की तुलना में शिक्षण-कला अधिक कठिन और दूरगामी प्रभाव वाली है, क्योंकि इसमें निर्जीव सामग्री नहीं, बल्कि संवेदनशील और जीवंत मानव व्यक्तित्व का निर्माण होता है। शिक्षक का प्रत्येक शब्द, व्यवहार और आदर्श विद्यार्थियों के वर्तमान और भविष्य को प्रभावित करता है। इसलिए शिक्षक के लिए एक स्पष्ट आदर्श और जीवन-दर्शन का होना अनिवार्य है। उस आदर्श के प्रति निरंतर निष्ठा, संयम और आत्मअनुशासन ही शिक्षक की प्रभावशीलता को बनाए रखते हैं। आदर्श से विचलन शिक्षक के प्रभाव और अस्तित्व को कमजोर कर देता है, जबकि आदर्श में स्थिरता उसे कठिन परिस्थितियों में भी संबल प्रदान करती है। इसी आदर्शबद्ध, विवेकपूर्ण और प्रेरणासंपन्न शिक्षण के माध्यम से व्यक्तित्व निर्माण, सामाजिक कल्याण और सभ्यता-संस्कृति का संरक्षण संभव होता है।

ꕥꕥꕥ

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *डॉ. एस. एस. चौहान, शिक्षण-शास्त्र के सिद्धान्त, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2005*
2. *डॉ. एन. के. सिंह एवं डॉ. एस. पी. आहूजा, शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय आधार, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2008*
3. *डॉ. बी. एन. झा, शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया, राधा प्रकाशन मन्दिर, आगरा, 2010*
4. *डॉ. आर. एस. शर्मा, शिक्षा मनोविज्ञान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012*
5. *डॉ. एम. एस. खान, शिक्षा के सिद्धान्त एवं व्यवहार, के.के. पब्लिकेशन्स, लखनऊ, 2014*
6. *डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, शिक्षा और संस्कृति, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, 1953*
7. *John Dewey, Democracy and Education, The Macmillan Company, New York, 1916*
8. *A. N. Whitehead, The Aims of Education and Other Essays, The Macmillan Company, New York, 1929*
9. *Percy Nunn, Education : Its Data and First Principles, Edward Arnold & Co., London, 1920*
10. *B. F. Skinner, The Science of Learning and the Art of Teaching, Harvard Educational Review, Vol. 24, 1954*
11. *M. L. Bigge and C. R. Tanner, Teaching as an Art, Harper & Brothers, New York, 1962*
12. *UNESCO, Learning : The Treasure Within (Delors Report), UNESCO Publishing, Paris, 1996*